

अब, मुनिधर्म का व्याख्यान करते हैं —

जो रयणत्तयजुत्तो, खमादिभावेहिं परिणदो णिच्चं ।

सव्वत्थ वि मज्झत्थो, सो साहू भण्णदे धम्मो ॥३९२ ॥

जो रत्नत्रय से युक्त हो धारण करे दश धर्म को ।

सर्वत्र समताभावमय है धर्म वह साधु अहो ॥३९२ ॥

अन्वयार्थ : [ जो रयणत्तयजुत्तो ] जो पुरुष, रत्नत्रय, अर्थात् निश्चय-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सहित हो, [ खमादिभावेहिं णिच्चं परिणदो ] क्षमादिभाव, अर्थात् उत्तमक्षमा को आदि देकर दश प्रकार के धर्म से नित्य (निरन्तर) परिणत हो, [ सव्वत्थ वि मज्झत्थो ] सब जगह - सुख-दुःख, तृण-कञ्चन, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा, जीवन-मरण आदि में समभावरूप रहे, राग-द्वेषरहित हो, [ सो साहू धम्मो भण्णदे ] वह साधु है और उसी को धर्म कहते हैं, क्योंकि जिसमें धर्म है ।

भावार्थ : यहाँ रत्नत्रयसहित चारित्र तेरह प्रकार का है सो मुनि का धर्म, महाव्रत आदि है, उसका वर्णन करना चाहिए, परन्तु यहाँ दश प्रकार के धर्म का विशेष वर्णन है, उसी में महाव्रत आदि का वर्णन गर्भित जानना चाहिए ।

अब, दश प्रकार के धर्म का वर्णन करते हैं —

सो चेव दहप्पयारो, खमादि भावेहिं सुक्खसारेहिं ।

ते पुण भणिज्जमाणा मुणियव्वा परमभत्तीए ॥३९३ ॥

मुनिधर्म वह दशविध क्षमादिक भावमय सुखमय है ।

वर्णन करें दश धर्म का, जो भक्ति से ज्ञातव्य है ॥३९३ ॥

अन्वयार्थ : [ सो चेव खमादि भावेहिं दहप्पयारों सुक्खसारेहिं ] वह मुनिधर्म, क्षमादि भावों से दस प्रकार है, कैसा है ? सौख्यसार कहिये सुख इससे होता है या सुख इसमें है अथवा सुख का सार है - प्रसिद्ध है, ऐसा है । [ ते पुण भणिज्जमाणा परमभत्तीए मुणियव्वा ] वह दस प्रकार का धर्म ( जिसका वर्णन अब करेंगे ), भक्ति से, अर्थात् उत्तम धर्मानुराग से जानने योग्य है ।

भावार्थ : उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य,

और ब्रह्मचर्य – ऐसे दश प्रकार का मुनिधर्म है, सो इसका भिन्न भिन्न व्याख्यान आगे करते हैं, वह जानना चाहिए।

अब, पहले उत्तमक्षमाधर्म को कहते हैं —

कोहेण जो ण तप्पदि, सुरणरतिरिहं कीरमाणे वि।

उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खिमा णिम्मला होदि ॥३९४॥

देव नर तिर्यञ्च करते, घोर हों उपसर्ग भी।

तप्त हों नहीं क्रोध से, निर्मल क्षमा उनको कही ॥३९४॥

अन्वयार्थ : [ जो ] जो मुनि, [ सुरणरतिरिहं ] देव, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि से [ रउद्दे उवसग्गे कीरमाणे वि ] रौद्र ( भयानक / घोर ) उपसर्ग करने पर भी [ कोहेण ण तप्पदि ] क्रोध से तप्तायमान नहीं होता है, [ तस्स णिम्मला खिमा होदि ] उस मुनि के निर्मलक्षमा होती है।

भावार्थ : जैसे – श्रीदत्त मुनि, व्यन्तरदेवकृत उपसर्ग को जीतकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गये; चिलातीपुत्र मुनि, व्यन्तरकृत उपसर्ग को जीतकर सर्वार्थसिद्धि गये; स्वामिकार्तिकेयमुनि, क्रोंचराजाकृत उपसर्ग को जीतकर देवलोक गये; गुरुदत्त मुनि, कपिल ब्राह्मणकृत उपसर्ग जीतकर मोक्ष गये; श्रीधन्यमुनि, चक्रराजकृत उपसर्ग को जीतकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गये; पाँच सौ मुनि, दण्डक राजाकृत उपसर्ग जीतकर सिद्ध हुए; राजकुमार मुनि ने पांशुल श्रेष्ठीकृत उपसर्ग जीतकर सिद्धि पायी; चाणक्य आदि पाँच सौ मुनि, मन्त्रीकृत उपसर्ग जीतकर मोक्ष गये; सुकुमाल मुनि, स्यालिनीकृत उपसर्ग सहकर देव हुए; श्रेष्ठी के बाईस पुत्र, नदी के प्रवाह में पद्मासन शुभध्यान से मरकर देव हुए; सुकौशल मुनि, बाघिनकृत उपसर्ग जीतकर सर्वार्थसिद्धि गये और श्रीपणिक मुनि, जल का उपसर्ग सहकर मोक्ष गये।

इस तरह देव, मनुष्य, पशु, अचेतन कृत उपसर्ग सहे और क्रोध नहीं किया, उनके उत्तमक्षमा हुई। ऐसे उपसर्ग करनेवाले पर क्रोध उत्पन्न नहीं होता है, तब उत्तमक्षमा होती है। उस समय क्रोध का निमित्त आवे तो ऐसा चिन्तवन करे कि जो कोई मेरे दोष कहता है, वे मेरे में विद्यमान हैं तो यह क्या मिथ्या कहता है? ऐसा विचार कर क्षमा करना। यदि

मेरे में दोष नहीं हैं तो यह बिना जाने कहता है; इसलिए अज्ञानी पर कैसा क्रोध? ऐसा विचार कर क्षमा करना। अज्ञानी के बालस्वभाव का चिन्तन करना कि बालक तो प्रत्यक्ष भी कहता है, यह तो परोक्ष ही कहता है, यह ही अच्छा है। यदि प्रत्यक्ष भी कुवचन कहे तो यह विचार करे कि बालक तो ताड़न भी करता है, यह तो कुवचन ही कहता है; मारता नहीं है, यह ही अच्छा है। यदि ताड़न करे तो यह विचार करे कि बालक अज्ञानी तो प्राणघात भी करता है, यह तो ताड़ता ही है; प्राणघात तो नहीं करता है, यह ही अच्छा है। यदि प्राणघात करे तो यह विचार करे कि अज्ञानी तो धर्म का भी विध्वंस करता है, यह तो प्राणघात ही करता है; धर्म का विध्वंस तो नहीं करता है और यह विचार करे कि मैंने पूर्व जन्म में पापकर्म किये थे, उनका यह दुर्वचनादिक उपसर्ग, फल है। मेरा ही अपराध है, पर तो निमित्तमात्र है – इत्यादि चिन्तन से उपसर्ग आदिक के निमित्त से क्रोध उत्पन्न नहीं होता है, तब उत्तमक्षमाधर्म होता है।

अब, उत्तममार्दवधर्म को कहते हैं —

**उत्तमणाणपहाणो, उत्तमतवयरणकरणसीलो वि ।**

**अप्पाणं जो हीलदि, मद्दवरयणं भवे तस्स ॥३१५ ॥**

**ज्ञान हो उत्कृष्ट, उत्तम तपश्चरण स्वभाव भी ।**

**मदरहित निज को करे, तो रत्न मार्दव हो उसे ॥३१५ ॥**

**अन्वयार्थ :** [ उत्तमणाणपहाणे ] जो मुनि, उत्तम ज्ञान से तो प्रधान हो, [ उत्तम-तवयरणकरणसीलो ] उत्तम तपश्चरण करने का जिसका स्वभाव हो, [ जो अप्पाणं हीलदि ] जो अपने आत्मा को मदरहित करे, [ तस्स मद्दवरयणं भवे ] उस मुनि के मार्दव नामक धर्मरत्न होता है।

**भावार्थ :** सब शास्त्रों का जाननेवाला पण्डित हो तो भी ज्ञानमद नहीं करे। यह विचारे कि मेरे से बड़े अवधि, मनःपर्याय ज्ञानी हैं; केवलज्ञानी सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी हैं। मैं क्या हूँ? (मैं तो) अल्पज्ञ हूँ। उत्तम तप करे तो भी उसका मद नहीं करे। आप, जाति, कुल, बल, विद्या, ऐश्वर्य, तप, रूप आदि से सबसे बड़े हैं तो भी परकृत अपमान को भी सहते हैं, उस समय गर्व करके कषाय उत्पन्न नहीं करते हैं, वहाँ उत्तममार्दवधर्म होता है।

अब, उत्तमआर्जवधर्म को कहते हैं —

जो चिंतेइ ण वंके, कुणदि ण वंके ण जंपदे वंके।

ण य गोवदि णियदोसं, अज्जवधम्मो हवे तस्स ॥३९६ ॥

मन में चिन्तन वक्र हो नहीं, वचन में नहीं काय में।

निज दोष को जो नहीं छिपावे, आर्जवधर्म हो उसे ॥३९६ ॥

अन्वयार्थ : [ जो वंके ण चिंतेइ ] जो मुनि, मन में वक्रतारूप चिन्तवन नहीं करे, [ वंके ण कुणदि ] काय से वक्रता नहीं करे, [ वंके ण जंपदे ] वचन से वक्ररूप नहीं बोले [ य णियदोसं ण गोवादि ] और अपने दोषों को नहीं छिपावे, [ तस्सअज्जवधम्मो हवे ] उस मुनि के उत्तमआर्जवधर्म होता है।

भावार्थ : मन-वचन-काय में सरलता हो; जो मन में विचारे, वही वचन से कहे, वही काय से करे। मन में तो दूसरे को भुलावा देने (ठगने) के लिये विचार तो कुछ करे, वचन से और ही कुछ कहे, काय से और ही कुछ करे - ऐसा करने से मायाकषाय प्रबल होती है; इसलिए ऐसा नहीं करे, निष्कपट हो प्रवृत्ति करे। अपने दोषों को नहीं छिपावे; जैसे के तैसे बालक की तरह गुरुओं पास कहे, वहाँ उत्तमआर्जवधर्म होता है।

अब, उत्तमशौचधर्म को कहते हैं —

समसंतोसजलेणं य, जो धोवदि तिच्चलोहमलपुंजं।

भोयणगिद्धिविहीणो, तस्स सउच्चं हवे विमलं ॥३९७ ॥

समता तथा सन्तोष जल से लोभमल धोवे अहो।

नहीं गृद्धि भोजन में जिसे वह शौच निर्मल युक्त हो ॥३९७ ॥

अन्वयार्थ : [ जो ] जो मुनि [ समसंतोसजलेण ] समभाव (राग-द्वेषरहित परिणाम) और सन्तोष (सन्तुष्टभाव) रूपी जल से [ तिच्चलोहमजपुंजं ] तीव्र तृष्णा और लोभरूपी मल के समूह को [ धोवदि ] धोवे (नाश करे), [ भोयणगिद्धिविहीणो ] भोजन की गृद्धि (अति चाह) से रहित हो, [ तस्स सउच्चं विमलं हवे ] उस मुनि का चित्त निर्मल होता है; अतः उसके उत्तमशौचधर्म होता है।

भावार्थ : समभाव (तृण, कञ्चन को समान जानना) और सन्तोष (सन्तुष्टपना;

तृप्तिभाव; अपने स्वरूप ही में सुख मानना) भावरूप जल से तृष्णा (आगामी मिलने की चाह) और लोभ (पाए हुए द्रव्यादिक में अति लिप्त रहना; उसके त्याग में अति खेद करना) रूप मल के धोने से मन पवित्र होता है। मुनि के अन्य त्याग तो होता ही है, केवल आहार का ग्रहण है, उसमें भी तीव्र चाह नहीं रखता है। लाभ-अलाभ, सरस-नीरस में समबुद्धि रहता है, तब उत्तमशौचधर्म होता है।

लोभ की चार प्रकार की प्रवृत्ति है - जीवन का लोभ, आरोग्य रहने का लोभ, इन्द्रिय बनी रहने का लोभ, उपयोग का लोभ। ये चारों अपने, और अपने सम्बन्धी स्वजन मित्र आदि के दोनों के चाहने से, आठ भेदरूप प्रवृत्ति है; इसलिए जहाँ सब ही का लोभ नहीं होता है, वहीं शौचधर्म है।

अब, उत्तमसत्यधर्म को कहते हैं —

**जिणवयणमेव भासदि, तं पालेदुं असक्कमाणो वि।**

**ववहारेण वि अलियं, ण वददि जो सच्चवाई सो ॥३१८ ॥**

यदि पाल सकता हो नहीं, पर जिनवचन ही बोलता।

व्यवहार में भी असत् वच, नहीं कहे सत्वादी सदा ॥३१८ ॥

**अन्वयार्थ :** [ जिणवयणमेव भासदि ] जो मुनि, जिनसूत्र के ही वचन को कहते हैं, [ तं पालेदुं असक्कमाणो वि ] उसमें जो आचार आदि कहा गया है, उसका पालन करने में असमर्थ हो तो भी अन्यथा नहीं कहते [ जो ववहारेण वि अलियं ण वददि ] और जो व्यवहार से भी अलीक (असत्य) नहीं कहते, [ सो सच्चवाई ] वह मुनि सत्यवादी हैं; उनके उत्तमसत्यधर्म होता है।

**भावार्थ :** जो जिनसिद्धान्त में आचार आदि का जैसा स्वरूप कहा हो, वैसा ही कहे। ऐसा नहीं कि जब आप से पालन न किया जाए, तब अन्य प्रकार कहे, यथावत् न कहे; अपना अपमान हो, इसलिए जैसे-तैसे कहे। व्यवहार जो भोजन आदि का व्यापार तथा पूजा-प्रभावना आदि का व्यवहार, उसमें भी जिनसूत्र के अनुसार वचन कहे; अपनी इच्छा से जैसे-तैसे न कहे। यहाँ दश प्रकार के सत्य का वर्णन है - नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीत्यसत्य, संवृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य,

समयसत्य । मुनियों का मुनियों से तथा श्रावकों से वचनालाप का व्यवहार है । यदि बहुत भी वचनालाप हो, तब भी सूत्रसिद्धान्त अनुसार इस दश प्रकार के सत्यरूप वचन की प्रवृत्ति होती है ।

१- अर्थ और गुण के न होने पर भी, वक्ता की इच्छा से किसी वस्तु का नाम (संज्ञा) रखा जाए तो नामसत्य है ।

२- जो रूपमात्र से कहा जाए, जैसे चित्र में किसी का रूप लख (देख) कर कहे कि सफेद रंग का अमुक व्यक्ति है, वह रूपसत्य है ।

३- किसी प्रयोजन के लिये किसी की मूर्ति स्थापित कर कहें, वह स्थापनासत्य है ।

४- किसी प्रतीति के लिये किसी को आश्रय करके कहना, वह प्रतीतिसत्य है । जैसे, ताल- यह परिणामविशेष है, उसको आश्रय करके कहे 'यह पुरुषताल है' अथवा लम्बा कहे तो छोटे को प्रतीत्य (आश्रय) कर कहे ।

५- लोकव्यवहार के आश्रय से कहे, वह संवृत्तिसत्य है; जैसे, कमल के उत्पन्न होने में अनेक कारण हैं तो भी पंक में हुआ; इसलिए पंकज कहते हैं ।

६- वस्तुओं को अनुक्रम से (क्रमपूर्वक) स्थापित करने का वचन कहे, वह संयोजनसत्य हैं; जैसे, दशलक्षण का मण्डल बनावे, उसमें अनुक्रम से चूर्ण के कोठे करे और कहे कि यह उत्तमक्षमा का है, इत्यादि जोड़रूप नाम कहे, अथवा दूसरा उदाहरण - जैसे, जौहरी मोतियों की लड़ियाँ करता है, उनमें मोतियों की संज्ञा स्थापित कर रखी है । वह जहाँ जो चाहिए, उस ही अनुक्रम से मोती पिरोता है ।

७- जिस देश में जैसी भाषा हो, वैसी कहे, वह जनपदसत्य है ।

८- ग्राम-नगर आदि का उपदेशकवचन, वह देशसत्य है; जैसे, जिसके चारों तरफ बाड़ा हो, उसको ग्राम कहना ।

९- छद्मस्थ के ज्ञान-अगोचर और संयमादिक पालने के लिये जो वचन, वह भावसत्य है; जैसे, किसी वस्तु में छद्मस्थ के ज्ञान-अगोचर जीव हों तो भी अपनी दृष्टि में जीव न देखकर, आगम के अनुसार कहे कि यह प्रासुक है ।

१०- जो आगमगोचर वस्तु है, उसे आगम के वचनानुसार कहना, वह समयसत्य है; जैसे, पल्य, सागर इत्यादि कहना।

दश प्रकार के सत्य का कथन गोम्मटसार में है, वहाँ सात नाम तो ये ही हैं और तीन के नाम यहाँ तो देश, संयोजना, समय हैं और वहाँ सम्भावना, व्यवहार, उपमा - ये हैं। उदाहरण अन्य प्रकार हैं, सो विवक्षा का भेद जानना; विरोध नहीं है। ऐसे सत्य की प्रवृत्ति होती है सो जिनसूत्रानुसार वचन-प्रवृत्ति करे, उसके सत्यधर्म होता है।

अब, उत्तमसंयमधर्म को कहते हैं —

**जो जीवरक्खणपरो, गमणागमणादिसव्वकज्जेसु।**

**तणछेदं पि ण इच्छदि, संजमधम्मो हवे तस्स ॥३९९ ॥**

जीव रक्षा में सदा, रत रहे गमनागमन में।

तृणमात्र छेदन नहीं करे, जो उसे संयमधर्म है ॥३९९ ॥

अन्वयार्थ : [ जो जीवरक्खणपरो ] जो मुनि, जीवों की रक्षा में तत्पर होता हुआ [ गमणागमणादिसव्वकज्जेसु ] गमन-आगमन आदि सब कार्यों में [ तणछेदं पि ण इच्छदि ] तृण का छेदमात्र भी नहीं चाहता है, नहीं करता है, [ तस्स संजयधम्मो हवे ] उस मुनि के संयमधर्म होता है।

भावार्थ : संयम, दो प्रकार का कहा गया है - इन्द्रिय, मन का वश करना और छह काय के जीवों की रक्षा करना। सो यहाँ मुनि के आहार-विहार करने में, गमन-आगमन आदि का काम पड़ता है तो उन कार्यों में ऐसे परिणाम रहते हैं कि मैं तृणमात्र का भी छेद नहीं करूँ, मेरे निमित्त से किसी का अहित न हो, ऐसे यत्नरूप प्रवर्तता है, जीवदया में ही तत्पर रहता है।

यहाँ टीकाकार ने अन्य ग्रन्थों से संयम का विशेष वर्णन किया है, उसका संक्षेप — संयम दो प्रकार का है — (१) उपेक्षासंयम, जो स्वभाव ही से राग-द्वेष को छोड़कर, गुप्तिधर्म में कायोत्सर्ग ध्यान द्वारा स्थिर हो, वहाँ उसके उपेक्षासंयम है। उपेक्षा का अर्थ उदासीनता या वीतरागता है। (२) अपहृतसंयम, अपहृतसंयम के तीन भेद हैं-उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य। चलते या बैठते समय जो जीव दिखायी दे, उससे आप बच जाए, जीव

को नहीं हटावे, वह उत्कृष्ट है; कोमल मयूरपंख की पीछी से जीव को हटाना, वह मध्यम है; और अन्य तृणादिक से हटाना, वह जघन्य है।

यहाँ अपहृतसंयमी को पञ्च समिति का उपदेश है। आहार-विहार के लिये गमन करे सो प्रासुकमार्ग देख जूड़ा प्रमाण (चार हाथ) भूमि को देखते हुए, मन्द-मन्द अति यत्न से गमन करना, वह ईर्यासमिति है। धर्मोपदेश आदि के निमित्त वचन कहे, सो हितरूप मर्यादापूर्वक सन्देहरहित स्पष्ट अक्षररूप वचन कहे, बहु प्रलाप आदि वचन के दोष हैं, उनसे रहित बोले, वह भाषासमिति है। काय की स्थिति के लिये आहार करे, सो मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना के दोष जिसमें नहीं लगें, ऐसा दूसरे से दिया हुआ, छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर, चौदह मलरहित अपने हाथ में खड़े होकर अति यत्न से शुद्ध आहार करना, वह एषणासमिति है। धर्म के उपकरणों को अति-यत्न से भूमि को देखकर उठाना-धरना, वह आदाननिक्षेपणसमिति है। अंग के मल-मूत्रादिक को, त्रस-स्थावर जीवों को देख, टाल (बचा) कर यत्नपूर्वक क्षेपण करना, वह प्रतिष्ठापनासमिति है। ऐसे पाँच समिति पाले, उसके संयम का पालन होता है क्योंकि ऐसा कहा है कि जो यत्नाचार से प्रवर्तता है, उसके बाह्य में जीव बाधा होने पर भी बन्ध नहीं है और यत्नरहित प्रवृत्ति करता है, उसके बाह्य में जीव मरे या न मरे, बन्ध अवश्य होता है।

अपहृतसंयम के पालन के लिये आठ शुद्धियों का उपदेश है — (१) भावशुद्धि, (२) कायशुद्धि, (३) विनयशुद्धि, (४) ईर्यापथशुद्धि, (५) भिक्षाशुद्धि, (६) प्रतिष्ठापना-शुद्धि, (७) शयनासनशुद्धि, (८) वाक्यशुद्धि।

भावशुद्धि तो, जैसे शुद्ध (उज्ज्वल) भींति (दीवार) में चित्र शोभायमान दिखायी देता है, वैसे ही कर्म के क्षयोपशमजनित है; इसलिए उसके बिना तो आचार ही प्रगट नहीं होता है। दिगम्बररूप, सब विकारों से रहित, यत्नरूप जिसमें प्रवृत्ति, शान्तमुद्रा, जिसको देखकर दूसरों को भय उत्पन्न नहीं होता है तथा आप भी निर्भय रहता है – ऐसी कायशुद्धि है। अरहन्त आदि में भक्ति, गुरुओं के अनुकूल रहना, वह विनयशुद्धि है। मुनि, जीवों के सब स्थान जानते हैं; इसलिए अपने ज्ञान से, सूर्य के प्रकाश से, नेत्रइन्द्रिय से मार्ग को अतियत्न से देखकर गमन करते हैं, वह ईर्यापथशुद्धि है। भोजन के लिये गमन करे, तब



पहले तो अपने मल-मूत्र की बाधा की परीक्षा करें, अपने अङ्ग का अच्छी तरह प्रतिलेखन करे, आचारसूत्र में कहे अनुसार देश-काल-स्वभाव को विचारें और इतनी जगह आहार के लिये नहीं जावें — जिनके गीत, नृत्य, वादित्र की आजीविका हो, उनके घर पर नहीं जावें; जहाँ प्रसूति हुई हो, वहाँ नहीं जावें; जहाँ मृत्यु हुई हो, वहाँ नहीं जावें; वेश्या के नहीं जावें; पापकर्म-हिंसाकर्म जहाँ हो, वहाँ नहीं जावें; दीन के घर, अनाथ के घर, दानशाला, यज्ञशाला, यज्ञ, पूजनशाला, विवाह आदि मङ्गल जहाँ हो रहे हों, इन सबके आहार के लिए नहीं जावें; धनवान के जाना या निर्धन के जाना - ऐसा विचार न करें; लोकनिन्दक कुल के घर नहीं जावें; दीनवृत्ति नहीं करें; प्रासुक आहार लें। आगम के अनुसार दोष-अन्तराय टालकर निर्दोष आहार लें, वह भिक्षाशुद्धि है। यहाँ लाभ-अलाभ, सरस-नीरस में समानबुद्धि रखता है।

भिक्षा, पाँच प्रकार की कही है। (१) गोचर, (२) अक्षम्रक्षण, (३) उदराग्निप्रशमन, (४) भ्रमराहार, (५) गर्तपूरण।

गौ की जैसे, दातार की सम्पदादिक की तरफ न देखे; जैसा पावे, वैसा आहार लेने ही में चित्त रखे, वह गोचरीवृत्ति है। जैसे, गाड़ी की वांगि (पहियों में तेल देकर) ग्राम पहुँचे; वैसे संयम के साधक, काय को निर्दोष आहार देकर संयम साधे, वह अक्षम्रक्षण है। आग लगने पर जैसे-तैसे जल से बुझा कर घर को बचावे, वैसे ही क्षुधाअग्नि को सरस-नीरस आहार से बुझा कर, अपने परिणाम उज्ज्वल रखें, वह उदराग्निप्रशमन है। भौरा, जैसे फूल को बाधा नहीं करता है और वासना (गंध) लेता है; वैसे ही मुनि, दातार को बाधा न पहुँचा कर आहार लें, वह भ्रमराहार है। जैसे, गर्त (गड्ढा) को जैसे-तैसे भरत से भरते हैं; वैसे ही मुनि, स्वादु-निःस्वादु आहार से उदर भरें, वह गर्तपूरण है। ऐसे भिक्षाशुद्धि होती है।

मल, मूत्र, श्लेष्म, थूक आदि का जीवों को देखकर यत्नपूर्वक क्षेपण करना, वह प्रतिष्ठापनाशुद्धि है। जहाँ स्त्री, दुष्ट जीव, नपुंसक, चोर, मद्यपायी, जीववध करनेवाले नीच लोग रहते हों, वहाँ न रहना, वह शयनासनशुद्धि है। शृंगार, विकार, आभूषण, सुन्दरवेश - ऐसी वेश्यादिक की क्रीड़ा जहाँ होती हो, सुन्दर गीत, नृत्य, वादित्र जहाँ होते

हों, जहाँ विकार के कारण नग्न गुह्यप्रदेश जिनमें दिखाई दे - ऐसे चित्र हों; जहाँ हास्य महोत्सव घोड़े आदि को शिक्षा देने का स्थान तथा व्यायामभूमि हो, वहाँ मुनि न रहे। जहाँ क्रोधादिक उत्पन्न हो - ऐसे स्थान पर न रहे, वह शयनासनशुद्धि है। जब तक कायोत्सर्ग खड़े रहने को शक्ति हो, तब तक स्वरूप में लीन होकर खड़े रहें, बाद में बैठे तथा खेद को दूर करने के लिये अल्प काल सोवे। जहाँ आरम्भ की प्रेरणारहित वचन प्रवर्ते; युद्ध, काम, कर्कश, प्रलाप, पैशुन्य, कठोर, परपीड़ा करनेवाले वाक्य न प्रवर्ते, विकथा के अनेक भेद हैं, वैसे वचन नहीं प्रवर्ते; जिनमें व्रत-शील का उपदेश हो; अपना व पर का हित हो, मीठे, मनोहर, वैराग्य के कारण; अपनी प्रशंसा, दूसरे की निन्दा से रहित; संयमीयोग्य वचन प्रवर्ते, वह वाक्यशुद्धि है। ऐसा संयमधर्म है।

संयम के पाँच भेद कहे हैं - सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात - ऐसे पाँच भेद हैं, इनका विशेष वर्णन अन्य ग्रन्थों से जानना।

अब, उत्तमतपधर्म को कहते हैं -

**इहपरलोयसुहाणं, णिरवेक्खो जो करेदि समभावो।**

**विविहं कायकिलेसं, तवधम्मो णिम्मलो तस्स ॥४००॥**

इस लोक या पर लोक सुख, निरपेक्ष हो समभाव से।

जो विविध कायक्लेश करता, धर्म निर्मल तप उसे ॥४००॥

अन्वयार्थ : [ जो ] जो मुनि, [ इहपरलोयसुहाणं णिरवेक्खो ] इस लोक-पर लोक के सुख की अपेक्षा से रहित होता हुआ, [ समभावो ] सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, तृण-कंचन, निन्दा-प्रशंसा आदि में राग-द्वेषरहित समभावी होता हुआ, [ विविहं कायकिलेसं ] अनेक प्रकार कायक्लेश [ करेदि ] करता है, [ तस्स णिम्मलो तवधम्मो ] उस मुनि के निर्मल तपधर्म होता है।

**भावार्थ :** चारित्र के लिये जो उद्यम और उपयोग करता है, वह तप कहा है। वह कायक्लेशसहित ही होता है; इसलिए आत्मा की विभावपरिणति के संस्कार को मिटाने के लिए उद्यम करता है। अपने शुद्धस्वरूप उपयोग को चारित्र में रोकता है, बड़े बलपूर्वक रोकता है - ऐसा बल करना ही तप है। वह बाह्य-आभ्यन्तर के भेद से बारह प्रकार का

कहा गया है। उसका वर्णन आगे चूलिका में होगा। ऐसे तपधर्म का वर्णन किया।

अब, उत्तमत्यागधर्म को कहते हैं —

जो चयदि मिट्टुभोज्जं, उवयरणं रायदोससंजणयं।

वसदिं ममत्तहेदुं, चायगुणो सो हवे तस्स ॥४०१॥

जो मिष्ट भोजन को तजे, रागादि जनक पदार्थ भी।

मोह का कारण वसतिका तजे वह त्यागी मुनि ॥४०१॥

अन्वयार्थ : [ जो मिट्टुभोज्जं चयदि ] जो मुनि, मिष्ट भोजन को छोड़ता है, [ रायदोससंजणयं उवयरणं ] राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाले उपकरण को छोड़ता है, [ ममत्तहेदुं वसदिं ] ममत्व का कारण वसतिका को छोड़ता है, [ तस्स चायगुणो हवे ] उस मुनि के त्याग नाम का धर्म होता है।

भावार्थ : मुनि के संसार-देह-भोग के ममत्व का त्याग तो पहले ही है। जिन वस्तुओं से काम पड़ता है, उनको यहाँ मुख्यरूप से कहा है। आहार से काम पड़े तो सरस-नीरस का ममत्व नहीं करे; धर्मोपकरण - पुस्तक, पीछी, कमण्डलु जिनसे राग तीव्र बँधे - ऐसे न रखे; जो गृहस्थजन के काम न आवे - ऐसी बड़ी वसति का रहने की जगह से काम पड़े तो ऐसी जगह न रहे जिससे ममत्व उत्पन्न हो, ऐसे त्यागधर्म का वर्णन किया।

अब, उत्तमआकिञ्चन्यधर्म को कहते हैं —

तिविहेण जो विवज्जदि, चेयणमियरं च सव्वहा संगं।

लोयववहारविरदो, णिगंथत्तं हवे तस्स ॥४०२॥

चेतन अचेतन सङ्ग को, मन-वचन-तन से परित्यजे।

जो रत नहीं व्यवहार में, निर्ग्रन्थता उसको कहें ॥४०२॥

अन्वयार्थ : [ जो ] जो मुनि, [ लोयववहारविरदो ] लोकव्यवहार से विरक्त होकर [ चेयणमियरं च सव्वहा संगं ] चेतन-अचेतन परिग्रह को सर्वथा [ तिविहेण विवज्जदि ] मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से छोड़ता है, [ तस्स णिगंथत्तं हवे ] उस मुनि के निर्ग्रन्थत्व होता है।

**भावार्थ :** मुनि, अन्य परिग्रह तो छोड़ता ही है परन्तु मुनित्व के योग्य ऐसे चेतन तो शिष्य संघ और अचेतन पुस्तक, पिच्छिका, कमण्डलु धर्मोपकरण और आहार, वसतिका, देह - ये अचेतन, इनसे भी सर्वथा ममत्व छोड़कर ऐसा विचारता है कि मैं तो आत्मा ही हूँ; अन्य मेरा कुछ भी नहीं है; मैं अकिञ्चन हूँ - ऐसा निर्ममत्व हो, उसके आकिञ्चन्यधर्म होता है।

अब, उत्तमब्रह्मचर्यधर्म को कहते हैं —

**जो परिहरेदि संगं, महिलाणं णेव पस्सदे रूवं ।**

**कामकहादिणिरीहो, णव विह बंभं हवे तस्स ॥४०३॥**

नारियों का तजे सङ्ग, नहिं रूप उनका देखता।

तजे, काम-कथादि, नव विध ब्रह्मचर्य उसे कहा ॥४०३॥

**अन्वयार्थ :** [ जो महिलाणं संगं परिहरेदि ] जो मुनि, स्त्रियों की सङ्गति नहीं करता है, [ रूवं णेव पस्सदे ] उनके रूप को नहीं देखता है, [ कामकहादिणिरीहो ] काम की कथा आदि शब्द से, स्मरणादिक से रहित हो, [ णव विह ] ऐसा नवधा, अर्थात् मन-वचन-काय; कृत-कारित-अनुमोदना और तीनों काल से-नव कोटि से करता है, [ तस्स बंभं हवे ] उस मुनि के ब्रह्मचर्यधर्म होता है।

**भावार्थ :** ब्रह्म, आत्मा है; उसमें लीन होना, वह ब्रह्मचर्य है। परद्रव्यों में आत्मा लीन हो, उनमें स्त्री में लीन होना प्रधान है क्योंकि काम, मन में उत्पन्न होता है; इसलिए यह अन्य कषायों से भी प्रधान है और इस काम का आलम्बन, स्त्री है; अतः इसका संसर्ग छोड़ने पर अपने स्वरूप में लीन होता है। इसलिए स्त्री की सङ्गति करना, रूप निरखना, कथा करना, स्मरण करना जो छोड़ता है, उसके ब्रह्मचर्य होता है। यहाँ टीका में शील के अठारह हजार भेद ऐसे लिखे हैं —

अचेतन स्त्री - काष्ठ पाषाण और लेपकृत। इन तीनों को मन-वचन-काय और कृत -कारित-अनुमोदान, इन छह से गुणा करने पर अठारह हुए। पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर, नव्वे (९०) हुए। द्रव्य और भाव से गुणा करने पर, एक सौ अस्सी (१८०) हुए। क्रोध मान माया लोभ, इन चारों से गुणा करने पर सात सौ बीस (७२०) हुए।

चेतन स्त्री - देवांगना, मुनष्यणी । उनको कृत-कारित-अनुमोदना से गुणा करने पर नौ (९) हुए । इनको मन-वचन-काय इन तीन से गुणा करने पर सत्ताईस (२७) हुए । पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर एक सौ पैंतीस (१३५) हुए । द्रव्य और भाव से गुणा करने पर दो सौ सत्तर (२७०) हुए । इनको चार संज्ञा-आहार, भय, मैथुन, परिग्रह से गुणा करने पर एक हजार अस्सी (१०८०) हुए । इनको अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभरूप सोलह कषायों से गुणा करने पर सत्रह हजार दो सौ अस्सी (१७२८०) हुए । इनमें अचेतन स्त्री के सात सौ बीस (७२०) भेद मिलाने पर अठारह हजार (१८०००) भेद हो जाते हैं । ये भेद अन्य प्रकार से भी किये हैं, उन्हें अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए<sup>१</sup> । ये आत्मा की परिणति के विकार के भेद हैं; अतः सबही को छोड़कर, अपने स्वरूप में रमण करे, तब ब्रह्मचर्यधर्म उत्तम होता है ।

अब, शीलवान की बढ़ाई कहते हैं, उक्तं च—

जो ण वि जादि विचारं, तरुणियणकडक्खबाणविद्धो वि ।

सो चेव सूरसूरो, रणसूरो<sup>२</sup> णो हवे सूरो ॥१॥

बिद्ध नारी नैन शर से, पर न लेश विकार है ।

शूर में भी शूर वह, रणशूर तो नहीं शूर है ॥१॥

अन्वयार्थ : [ जो ] जो पुरुष [ तरुणियणकडक्खबाणविद्धो वि ] स्त्रियों के कटाक्षरूपी बाणों से आहत होकर भी [ विचारं ण वि जादि ] विकार को प्राप्त नहीं होता है, [ सो चेव सूरसूरो ] वह शूरवीरों में प्रधान है [ रणसूरो सूरो णो हवे ] और जो रण में शूरवीर है, वह शूरवीर नहीं है ।

भावार्थ : युद्ध में सामना करके मरनेवाले शूरवीर तो बहुत हैं परन्तु जो स्त्रियों के वश में नहीं होते हैं, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं - ऐसे विरले ही हैं; वे ही बड़े

१) अशुभ मन-वचन-काय को त्रिगुप्ति द्वारा घात करे, वह शील के नौ भेद; उनको आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाओं से गुणा करने से  $९ \times ४ = ३६$  हुए; उनको पञ्चेन्द्रिय से गुणा करने से १८० भेद; उसे पृथ्वी आदि पाँच स्थावर और त्रसकायिकों में दो-तीन-चार - संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, यह १० भेद से गुणने पर १८०० हुए । उसको उत्तम क्षमादि १० धर्मों से गुणने पर १८००० भेद हुए । ( षट्प्राभृतादि संग्रह, पृ० २६७ )

२) मुद्रित प्रति में 'रणसूणो' पाठ है ।

साहसी हैं, शूरवीर हैं; काम को जीतनेवाले ही बड़े सुभट हैं। ऐसे दस प्रकार के धर्म का वर्णन किया।

अब, इसको सङ्कोच करते हैं —

एसो दहप्पयारो, धम्मो दहलक्खणे हवे णियमा।

अण्णो हवदि धम्मो, हिंसा सुहमा वि जत्थत्थि ॥४०४॥

यह दश तरह का धर्म, दस लक्षण स्वरूपी है कहा।

अन्यत्र किञ्चित् जहाँ हिंसा, वहाँ धर्म कदापि ना ॥४०४॥

अन्वयार्थ : [ एसो दहप्पयारो धम्मो णियमा दहलक्खणे हवे ] यह दश प्रकार का धर्म ही नियम से दश लक्षणस्वरूप धर्म है [ अण्णो जत्थत्थि सुहमा वि हिंसा धम्मो ण हवदि ] और अन्य जहाँ सूक्ष्म भी हिंसा होवे, वह धर्म नहीं है।

भावार्थ : जहाँ हिंसा हो और उसको कोई अन्यमती धर्म मानता हो तो उसे धर्म नहीं कहते हैं। यह दश लक्षणस्वरूप धर्म कहा है, वही नियम से धर्म है।

इस गाथा में कहा है कि जहाँ सूक्ष्म भी हिंसा पायी जाए, वह धर्म नहीं है। इसी अर्थ को अब स्पष्ट करते हैं —

हिंसारंभो ण सुहो, देवणिमित्तं गुरूण कज्जेसु।

हिंसा पावं ति मदो, दयापहाणो जदो धम्मो ॥४०५॥

देव-गुरु के निमित्त भी, हिंसा कार्य न शुभ अरे।

हिंसा कही है पापमय, अरू दयामय है धर्म रे ॥४०५॥

अन्वयार्थ : [ हिंसा पावं ति मदो जदो धम्मो दयापहाणो ] जिससे हिंसा हो, वह पाप है; धर्म है, वह दया प्रधान है - ऐसा कहा गया है। [ देवणिमित्तं गुरूण कज्जेसु हिंसारंभो सुहो ण ] इसलिए देव के निमित्त तथा गुरु के कार्य के निमित्त भी, हिंसा आरम्भ, शुभ नहीं है।

भावार्थ : अन्यमती, हिंसा में धर्म मानते हैं। मीमांसक तो यज्ञ करते हैं, उसमें पशुओं को होमते हैं और उसका फल, शुभ कहते हैं। देवी और भैरों ( भैरव ) के उपासक